आत्मा मनो पर प्रकाशक ही रहा हो,
तो आत्म से पृथक दर्शन ही रहा वो ।
औ अन्य-द्रव्य गत दर्शन भी नहीं है,
यों पूर्व के कथन में मिलता सही है ॥१६३॥

ज्यों ज्ञान, मात्र व्यवहार तथा प्रकाशी,
त्यों अन्य का यह सुदर्शन भी प्रकाशी ।
ज्यों आत्म मात्र व्यवहार तया प्रकाशी,
त्यों अन्य का वह सुदर्शन भी प्रकाशी ॥१६४॥

ज्यों ज्ञान, मात्र व्यवहार तया प्रकाशी,
त्यों हो सुदर्शन अतः निज का प्रकाशी ।
ज्यों आत्म निश्चयतया निज का प्रकाशी,
त्यों हों सुदर्शन अतः निज का प्रकाशी ॥१६५॥

ये केवली नियम से निज को निहारे,
ना देखते सकल लोक अलोक सारे ।
कोई मनो यदि कहे इस भांति भाई,
क्या दोष दूषण रहा इस में बुराई ॥१६६॥

संसार के अमित मूर्त अमूर्त सारे,
ये द्रव्य चेतन अचेतन आदि प्यारे ।
जो जानता निज समेत इन्हें सुचारा,
प्रत्यक्ष है वह अतीन्द्रिय ज्ञान सारा ॥१६७॥

पूर्वोक्त द्रव्य दल जो दिखता अपारा,
नाना गुणों विविध-पर्यय का पिटारा ।
जाने सही न उसको युगपत् कदापि,
होता परोक्ष वह ज्ञान कहें अपापी ॥१६८॥

हैं देखते सकललोक अलोक सारे,
ये केवली पर नहीं निज को निहारें ।
कोई मनो यदि कहें इस भांति भाई,
क्या दोष दूषण रहा इस में बुराई ॥१६९॥

है ज्ञान आतम सरूप सदा सुहाता,
आत्मा अतः बस निजातम जान पाता ।
माना न ज्ञान निज आतम को जनाता,
तो आत्म से पृथक ज्ञान बना, न पाता ॥१७०॥

तू आत्म को समझ ज्ञान अनूप प्याला,
औ ज्ञान को समझ आतम रूपवाला ।
ये ज्ञान दर्शन अतः स्वपर-प्रकाशी,
संदेह के बिन, कहे मुनि सत्यभाषी ॥१७१॥

इच्छा किये बिन सुकेवल ज्ञान धारी,
हैं जानते निरखते सब को अघारी ।
होते अतः सब अबंधक निर्विकारी,
रोते यहाँ सतत बंधक ये विकारी ॥१७२॥

संकल्पपूर्वक कभी कुछ बोलना है,
सो बंध हेतु, पय में विष घोलना है ।
संकल्प-मुक्त कुछ बोलत साधु ज्ञानी,
होता न बंध उनको सुन भव्य प्राणी ॥१७३॥

इच्छा समेत कुछ भी वह बोलना है,
लो बंध हेतु, पय में विष घोलना है ।
इच्छा विमुक्त कुछ बोलत साधु ज्ञानी,
होता न बंध उनको सुन भव्य ! प्राणी ॥१७४॥

इच्छा बिना सहज से उठ बैठ जाते,
है केवली इसीलिये नहीं बंध पाते ।
मोही बना जगत ही विधि बन्ध पाता,
ऐसा वसन्ततिलका वह छन्द गाता ॥१७५॥

है आयु का प्रथम तो अवसान होता,
निश्शेष कर्म दल का फिर नाश होता,
पश्चात् सुशीघ्र शिव वे पल में लसेंगे,
लोकाग्र पे स्थित शिवालय में बसेंगे ॥१७६॥

दुष्टाष्ट कर्म तजते सकलावभाशी,
होते अछेद्य परमोत्तम ना विनाशी
ज्ञानादि अक्षय चतुष्टय रूप धारे,
वार्धक्य जन्म मृति-मुक्त सुसिद्ध सारे ॥१७७॥

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे,
वे सिद्ध हैं अचल नित्य अनूप सारे ।
होते अतीन्द्रिय पुनः भव में न आते,
हैं पुण्य-पाप-विधि-मुक्त मुझे सुहाते ॥१७८॥

बाधा न जीवित जहाँ कुछ भी न पीड़ा,
आती न गन्ध दुख की सुखी की न क्रीड़ा ।
ना जन्म है मरण है जिस में दिखाते,
निर्वाण जान वह है गुरू यों बताते ॥१७९॥

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नहीं है,
ये इन्द्रियाँ जड़मयी जिस में नहीं हैं ।
होते कभी न उपसर्ग तृषा क्षुधा हैं,
निर्वाण में सुखद बोधमयी सुधा है ॥१८०॥

चिंता नहीं उपजती चिति में जरा-सी,
नो कर्म भी नहिं, नहीं वसु कर्म राशी ।
होते जहाँ नहिं शुभाशुभ ध्यान चारों,
निर्वाण है वह, सुधी तुम यों विचारो ॥१८१॥

कैवल्य-बोध सुख दर्शन वीर्यवाला,
आत्मा प्रदेशमय मात्र अमूर्त शाला ।
निर्वाण में निवसता निज नीति धारी,
अस्तित्व से विलसता जग आर्तहारी ॥१८२॥

निर्वाण ही परम सिद्ध रहा सुहाता,
या सिद्ध शुद्ध निर्वाण सदा कहाता ।
जो कर्म-मुक्त बनते अविराम जाते,
लोकाग्र लौं फिर सुसिद्ध विराम पाते ॥१८३॥

यों प्राणि पुद्गल, जहाँ तक धर्म होता,
जाते वहाँ नहिं, जहाँ नहिं धर्म होता ।
यों जीव की व जड़ की गति में सहाई,
धर्मास्तिकाय बनता सुन भव्य भाई ॥१८४॥

हो शास्त्र भक्तिवश शास्त्र यही बनाया,
मैंने यहाँ 'नियम' के फल को दिखाया ।
पूर्वापरा यदि विरोध यहाँ दिखावें,
शास्त्रज्ञ दूर कर नित्य पढ़ें पढ़ावें ॥१८५॥

ईर्ष्याभिभूत जन सुंदर पंथ की भी,
निंदा करे शरण ले अघ ग्रंथ की भी ।
भाई कभी न उनसे अनुकूल होना,
आस्था जिनेश पथ की मत भूल खोना ॥१८६॥

पूर्वापरा-सकल दोष-विहीन प्यारा,
होता जिनागम अपार अगाध न्यारा ।
मैंने स्वकीय-शुचिभाव-निमित्त भाया,
जाना उसे 'नियमसार' पुनः रचाया ॥१८७॥

इति शुभं भूयात्

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझ में कुछ नहिं ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान ॥१॥

स्थान एवं समय परिचय

रहा तपोवन नियम से रम्य क्षेत्र थूबौन
जहाँ ध्यान में उतरता मुनि का मन हो मौन ॥२॥

शांति नाथ जिन नाथ है दर्शन से अति हर्ष ।
धारा वर्षायोग उन चरणन में इस वर्ष ॥३॥

गात्र गगन गति गंध की भाद्र वदीशित तीज ।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है भुक्ति मुक्ति का बीज ॥४॥

मंगल कामना

विस्मृत मम हो विगत सर्व विगलित हो मद मान ।
ध्यान निजातम का करूँ करूँ निजी गुण गान ॥१॥

सादर शाश्वत सारमय समय सार को जान
गट गट झट पट चाय से करूँ निजामृत पान ॥२॥

रम रम शम दम में सदा मत रम पर में भूल ।
रख साहस फलतः मिले भव का पल में कूल ॥३॥

चिदानन्द का धाम है ललाम आतमराम ।
तन मन से न्यारा दिखे मन पे लगे लगाम ॥४॥

निरा निरामय नव्य मैं नियत निरंजन नित्य
यह केवल नियमित जपूँ तजूँ विषय अनित्य ॥५॥

मन वच तन में सौम्यता धारो बन नवनीत
सार्थक तब जप तप बने प्रथम बनो भयभीत ॥६॥

रति रति पति से मति बने गति पंचम गति होय
कारण सादृश कार्य हो समाधान मति होय ॥७॥

सार यही जिनशास्त्र का सादर समता धार
रहा बंध पर राग है विराग भवदधि पार ॥८॥

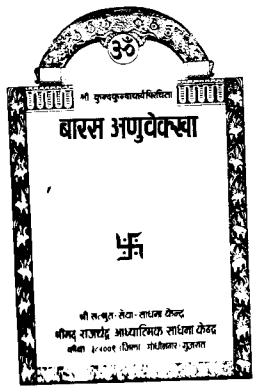

द्वादशानुप्रेक्षा

मूल : द्वादशानुप्रेक्षा (प्राकृत)

रचनाकार : आचार्य कुंदकुंद स्वामी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

द्वादशानुप्रेक्षा

मंगलाचरण (प्रतिज्ञा वाक्य)

उत्कृष्ट ध्यान बल से भव बंध तोड़ा,
वे सिद्ध, ढोक उनको द्वय हाथ जोड़ा ।
चौबीस तीर्थंकर की कर वंदना मैं,
पश्चात् कहूँ सुखद द्वादश भावनाएँ ॥१॥

संसार, लोक, वृष, आस्रव, निर्जरा है,
अन्यत्व और अशुचि, अध्रुव, संवरा है ।
एकत्व औ अशरणा अवबोधना ये,
भावे सुधी सतत द्वादश भावनायें ॥२॥

अनित्यानुप्रेक्षा

सर्वोत्तमा भवन वाहन यान सारे,
ये आसनादि शयनादि प्यारे ।
माता पिता स्वजन सेवक दास दासी,
राजा प्रजाजन सुरेश विनाश राशी ॥३॥

लावण्य-लाभ बल यौवन रूप प्यारा,
सौभाग्य इन्द्रिय सतेज अनूप सारा ।
आरोग्य संग सब में पल आयुवाले,
हो नष्ट ज्यों सुरधनु बुध यों पुकारे ॥४॥

होके मिटे कि बलदेव नरेन्द्र का भी,
नागेन्द्र का सुपद त्यों न सुरेन्द्र का भी
ये मेघ दृश्य सम या जलके बबूले,
विद्युत् सुरेश धनु से नसते समूले ॥५॥

लो ! क्षीर नीर सम, मिश्रित, काय यों ही,
जो जीव से दृढ़ बंधा नश जाय मोही !
भोगोपभोग अघ कारण द्रव्य सारे,
कैसे गले ध्रुव रहें व्यय शील वाले ॥६॥

है वस्तुतः नर सुरासुर पैभवों से,
आत्मा रहा पृथक भिन्न भवों भवों से ।
ऐसा करो सतत चिंतन, जी रहा है,
आत्मा यही अमर शाश्वत ही रहा है ॥७॥

अशरणानुप्रेक्षा

घोड़े बड़ें रथ खड़ें मणि मंत्र हाथी,
विद्या दवा सकल रक्षक संग साथी ।
पै मृत्यु के समय में जग में हमारे,
होंगे नहीं शरण ये बुध यों विचारे ॥८॥

है स्वर्ग-दुर्ग-सुरवर्ग सुभृत्य होता,
है वज्र शस्त्र जिसका वह इन्द्र होता ।
ऐरावता गज गजेन्द्र सवार होता,
ना ! ना ! उसे शरण अंतिम बार होता ॥९॥

अश्वादि पूर्ण बल है चतुरंग सेना,
दो सात रत्न निधियाँ नव रंग लेना ।
चक्रेश को शरण ये नहिं अन्त में हो,
खा जाय काल लखते लखते इन्हें यों ॥१०॥

लो रोग से जनन मृत्यु जरादिकों से,
रक्षा निजात्म निजकी करता अघों से ।
त्रैलोक में इसलिए निज आतमा ही,
है वस्तुतः शरण लो अघ खातमा ही ॥११॥

ये पांच इष्ट अरहंत सुसिद्ध प्यारे,
आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सारे ।
आत्मा निजात्ममय ही करता इन्हें है,
आत्मा अत: शरण ही नमता मुझे है ॥१२॥

सद्ज्ञान और समदर्शन भी लखे हैं,
सच्चा चरित्र तप भी जिस में बसे हैं ।
आत्मा वही नियम से समझो कहाता,
आत्मा अत: शरण हो मम प्राण त्राता ॥१३॥

एकत्वानुप्रेक्षा

आत्मा यही विविध कर्म करे अकेला,
संसार में भटकता चिर से अकेला ।
है एक ही जनमता मरता अकेला,
है भोगता करम का फल भी अकेला ॥१४॥

है एक ही विषय की मदिरा सदा पी,
औ तीव्र लोभवश हो, कर पाप पापी ।
तिर्यंच को नरक की दुख योनियों में,
भोगों स्व कर्म एक भवों भवों में ॥१५॥

दे पात्र दान उस धर्म निमित्त आत्मा,
है एक ही करत पुण्य अये महात्मा ।
होता मनुष्य फलत: दिवि देव होता,
पै एक ही फल लखे स्वयमेव ढ़ोता ॥१६॥

उत्कृष्ट पात्र वह साधु अहो रहा है,
सम्यक्त्व से सहित शोभित हो रहा है ।
सम्यक्त्व धार इक देश व्रती सुहाता,
है पात्र मध्यम सुश्रावक ही कहाता ॥१७॥

सम्यक्त्व पा अविरती रहता सरागी,
होता जघन्य वह पात्र व पाप त्यागी,
सम्यक्त्व से रहित मात्र अपात्र जानो
भाई अपात्र अरु पात्र सही पिछानो ॥१८॥

वे भ्रष्ट हैं पतित, दर्शन भ्रष्ट जो हैं,
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं ।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले सिजेंगे,
पे भ्रष्ट दर्शनतया नहिं वे सिजेंगे ॥१९॥

मैं हूँ विशुद्धतम निर्मम हूँ अकेला,
विज्ञान दर्शन सुलक्षण मात्र मेरा ।
एकत्व का सतत चिंतन साधु ऐसा,
आदेय मान करते रहते हमेशा ॥२०॥

अन्यत्वानुप्रेक्षा

माता पिता सुत सुता वनिता व भ्राता,
हैं जीव से पृथक हैं रखते न नाता ।
ये बाह्य में सहचरी दिख भी रहे हैं,
मोहाभिभूत मदिरा नित पी रहे हैं ॥२१॥

स्वामी मरा मम, रहा मम प्राण प्यारा,
यों शोक नित्य करता जड़ ही विचारा ।
पै डूबता भव पयोनिधि में निजी की,
चिंता कभी न करता गलती यही की ॥२२॥

मैं शुद्ध चेतन, अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला,
रे देह नेह करना अति दु:ख पाना,
छोड़ो उसे तुम यही गुरु का बताना ॥२३॥

संसारानुप्रेक्षा

संसार पंच विध है दुख से भरा है,
है रोग शोक मृति जन्म जहाँ जरा हैं ।
जो मूढ़ गूढ़ निज को न निहारता है
संसार में भटकता चिर हारता है ॥२४॥

संसार में विषय पुद्गल में अनेकों,
भोगे तजे बहुत बार नितान्त देखो ।
संसार द्रव्य परिवर्तन वो रहा है,
अध्यात्म के विषय में जग सो रहा है ॥२५॥

ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो,
तूने गहा ! न तन को क्रमशः जहाँ हो ।
छोटे बड़े धर सभी अवगाहनों को,
संसार "क्षेत्र" पलटे बहुशः अनेकों ॥२६॥

उत्सर्पिणीव अवसर्पिणि की अनेकों,
कालावती वरतती अयि भव्य देखो ।
यों जन्म मृत्यु उनमें बहु बार पाये,
हो मूढ़ काल परिवर्तन भी कराये ॥२७॥

तूने जघन्य नरकायु लिए बिताये,
ग्रैवेयकांत तक अंतिम आयु पाये ।
मिथ्यात्व धार भव के परिवर्तनों को,
पूरे किये बहु व्यतीत युगों युगों को ॥२८॥

लो सर्व कर्म स्थिति यों अनुभाग बंधों,
बाँधे प्रदेश विधि के अयि भव्य बंधो !
मिथ्यात्व के वश हुए भव में भ्रमाये,
ऐसे अनंत भव भावमयी बिताये ॥२९॥

स्त्री पुत्र मोह वश ही धन है कमाता,
पापी बना विषम जीवन है चलाता ।
तो दान धर्म तजता निज भूल जाता,
संसार में भटकता प्रतिकूल जाता ॥३०॥

स्त्री पुत्र धान्य धन ये मम कोष प्यारे,
यों तीव्र लोभ-मद पी सब होश टारे ।
सद्धर्म से बहुत ही बस ऊब जाते,
मोही अगाध भव सागर डूब जाते ॥३१॥

मिथ्यात्व के उदय से जिन धर्म निंदा,
पापी सदैव करता नहिं आत्म निंदा ।
जाता कुतीर्थ, व कुलिंग कुधर्म माने,
संसार में भटकता, सुन तू सयाने ॥३२॥

हो क्रूर जीव वध भी कर माँस खाता,
पीता सुरा मधु-चखे तन दास भाता ।
पापी पराय धन स्त्री हरता सदा है
संसार में गिर, सहे दुख आपदा है ॥३३॥

संसार में विषय के वश जो रहेगा,
सो यत्न रात-दिन भी अघ का करेगा ।
मोहांधकार युत जीवन जी रहा है,
संसार में भटकता "लघुधी रहा है ॥३४॥

दोनों निगोद चउथावर सप्त सप्त,
हैं लक्ष हो विकल इन्द्रिय है प्रयत्न ।
हैं वृक्ष लक्ष दश चौदह लक्ष मर्त्य,
चौरासि-लक्ष सब योनि सुजान मर्त्य ॥३५॥

मानापमान मिल जाय अलाभ होता,
होता कभी सुख कभी दुख लाभ होता ।
होता वियोग विनियोग सुयोग होता,
संसार को निरख तू उपयोग जोता ॥३६॥

हैं कर्म के उदय से जग जीव सारे,
दिग् मूढ़ घोर भव कानन में विचारे
संसार-तत्व नहिं निश्चय से तथापि,
हैं जीव मुक्त विधि से चिर से अपापी ॥३७॥

होता अतीत भवसे पढ़ आत्म गाथा,
आदेय-ध्येय वह जीव सदा सुहाता ।
संसार दुःख सहता दिन रैन रोता,
ऐसा विचार वह केवल हेय होता ॥३८॥

लोकानुप्रेक्षा

जीवादि द्रव्य-दल शोभित हो रहा है,
है लोक स्वीकृत सुनो तुम वो रहा है ।
पाताल-मध्य पुनि ऊर्ध्व प्रभेद द्वारा ॥
सो लोक भी त्रिविध है दुख का पिटारा ॥३९॥

नीचे जहाँ नरक, नारक नित्य रोते,
हैं मध्य में जलधि द्वीप असंख्य होते ।
हैं ऊर्ध्व में स्वरग त्रेशठ भेदवाले,
लोकान्त में परम मोक्ष, मुनीश पाले ॥४०॥

हैं एकतीस पुनिसात व चार दो है,
है एक एक छह यों क्रमवार जो हैं ।
औ तीन बार त्रय है इक एक सारे,
ऋत्वादि ये पटल त्रेशठ है उजाले ॥४१॥

स्वर्गीय मर्त्य सुख हो शुभ से सुनो रे !
शुद्धोपयोग बल से शिव हो गुणो रे ।
पाताल हो अशुभ से पशु या विचारो,
यों लोक चिंतन करो अघ को विसारो ॥४२॥

अशुच्यानुप्रेक्षा

पूरी हुई चरम से वह अस्थियों से,
काया बंधी वलिपटी पल पेशियों से
कीड़े जहाँ बिलबिला करते सदा हैं,
मैली घृणास्पद यही तन संपदा है ॥४३॥

वीभत्स है तन अचेतन है विनाशी,
दुर्गन्ध मांसमल का घर रूपराशी ।
धारा स्वभाव सड़ना गलना सदा ही,
ऐसा सुचिंतन करो शिव राह राही ॥४४॥

मज्जा व मांस रस रक्त व मेद वाला,
है मूत्र पीब कृमिधाम शरीर कारा ।
दुर्गन्ध है अशुचि चर्ममयी विनाशी,
जानो अचेतन अनित्य अरे विलाशी ॥४५॥

है कर्म से रहित है तन से निराला,
होता अनन्त सुखधाम सदा निहाला ।
आत्मा अचेतन निकेतन है अनोखा,
भा भावना सतत तू इस भांति चोखा ॥४६॥

आस्रवानुप्रेक्षा

मिथ्यात्व और अविरती व कषाय चारों,
औ योग आस्रव रहें इन को विसारो ।
ये पांच पांच क्रमशः चउ तीन भाते,
सत् शास्त्र शुद्ध इनका शुचि गीत गाते ॥४७॥

एकान्त औ विनय औ विपरीत चौथा,
अज्ञान संशय करे निजरीत खोता ।
मिथ्यात्व यों नियम से वह पंचधा है,
हिंसादि से अविरती वह पंचधा है ॥४८॥

माया प्रलोभ पुनि मान व क्रोध चारों,
होते कषाय दुख दे, इनको विसारो ।
वाक्काय और मन ये त्रय योग होते,
वे सिद्ध योग बिन हो उपयोग होते ॥४९॥

होता द्विधा वह शुभाशुभ भेद द्वारा,
प्रत्येक योग समझो गुरु ने प्रकारा ।
आहार आदिक रही वह चार संज्ञा,
होता वही अशुभ है "मन" मान अज्ञा ॥५०॥

लेश्या सभी अशुभ जो प्रतिकूल बाना,
धिक्कार, इन्द्रिय सुखो नित झूल जाना ।
ईर्षा विषाद, इन को जिन शास्त्र गाता,
ये ही रहे अशुभ सो मन, दुःख दाता ॥५१॥

नौ नो कषायमय जो परिणाम होना,
संमोह रोष रति को अविराम ढ़ोना ।
हो स्थूल सूक्ष्म कुछ भी जिन का बताना,
वे ही रहे अशुभ सो मन दुःख बाना ॥५२॥

स्त्री राज चोर अरु भोजन की कथायें,
माना बुरा वचन योग, करें व्यथा ये ।
औ छेदनादि वधनादि बुरी क्रियायें,
सो काय का अशुभ योग, यती बतायें ॥५३॥

पूर्वोक्त जो अशुभ भाव उन्हें विसारे,
छोड़े तथा अशुभ द्रव्य अशेष सारे ।
हो संयमी समिति शील व्रतों निभाना,
जानो उसे शुभ रहा मन योग बाना ॥५४॥

बोलो वही वचन जो भव दुःखहारी,
सो योग है वचन का शुभ सौख्यकारी ।
सद्देव शास्त्र गुरु पूजन लीन काया,
सो काय योग शुभ है जिन ईश गाया ॥५५॥

जो दुःख रूप जल जंगम से भरा है,
ले दोष रूप लहरें लहरा रहा है ।
खाता, भवार्णव जहाँ यह जीव गोता,
है कर्म-आस्रव सहेतु सदीव होता ॥५६॥

ज्यों ही कुधी करम-आस्रव खूब पाता,
त्यों ही अगाध भव सागर डूब जाता ।
सद्ज्ञान मंडित क्रिया कर तू जरा से,
है मोक्ष का वह निमित्त परंपरा से ॥५७॥

ज्यों ही कुधी करम-आस्रव खूब पाता,
त्यों ही अगाध भव सागर डूब जाता ।
जो आस्रवा वह क्रिया शिव का न हेतु,
ऐसा विचार कर नित्य नितान्त रे तू ॥५८॥

हो सास्रवी वह क्रिया न परंपरा से,
निर्वाण हेतु तुम तो समझो जरा से ।
संसार के गमन का वह हेतु होता,
हैं निंद्य आस्रव हमें भव में डुबोता ॥५९॥

पूर्वोक्त आस्रव विभेद निरे निरे हैं,
आत्मा विशुद्ध नय से उनसे परे है ।
आत्मा रहा उभय आस्रव मुक्त ऐसा,
चिंते सभी तज प्रमाद सुधी हमेशा ॥६०॥

संवरानुप्रेक्षा

सम्यक्त्व का दृढ़ कपाट विराट प्यारा,
जो शून्य है चलमलादि अगाढ़ द्वारा ।
मिथ्यात्व रूप उस आस्रव द्वार को है,
जो रोकता जिन कहें जग सार सो है ॥६१॥

पाले मुनीश-मन पंच महाव्रतों को,
रोके सही अविरती मय-आस्रवों को
जो निष्कषाय मय पावन भाव-धारे,
रोके कषाय मय आस्रव द्वार सारे ॥६२॥

औचित्य है कि शुभ योग विकास पाता,
सद्यः स्वतः अशुभ योग विनाश पाता ।
शुद्धोपयोग, शुभयोगन को नशाता,
ऐसा वसंततिलका यह छन्द गाता ॥६३॥

शुद्धोपयोग बल वो मिलता जिसे है,
तो धर्म शुक्लमय ध्यान मिले उसे है ।
है ध्यान हेतु विधि संवर का इसी से,
ऐसा करो सतत चिंतन भी रुचि से ॥६४॥

जीवात्म में न वर संवर भाव होता,
वो तो विशुद्ध नय से शुचि भाव ढोता ।
आत्मा विमुक्त वर संवर भाव से रे !
ऐसा सुचिंतन सदा कर चाव से रे ॥६५॥

निर्जरानुप्रेक्षा

जो भी बंधा पृथक हो विधि आतमा से,
सो निर्जरा जिन कहे निज की प्रभा से ।
हो संवरा जिस निजी परिणाम द्वारा,
हो निर्जरा वह उसी परिणाम द्वारा ॥६६॥

सो निर्जरा द्विविध, एक असंयमी में,
होती सभी गतिन में इक संयमी में ।
आद्या स्वकाल विधिका झरना कहाती,
दूजी तपश्चरण का फल रूप भाती ॥६७॥

धर्मानुप्रेक्षा

है धर्म ग्यारह तथा दश भेदवाला,
सम्यक्त्व से सहित है जिन वेद शाला ।
सागार और अनगार जिसे निभाते,
पा श्रेष्ठ सौख्य जिन सो हमको बताते ॥६८॥

सद्दर्शना सुव्रत सामयकी सभक्ति
औ प्रौषधी सचित त्याग दिवाभिभुक्ति
है ब्रह्मचर्य व्रत सार्थक नाम पाता
आरंभ संग अनुमोदन त्याग साता
उद्दिष्टत्याग व्रत ग्यारह ये कहाते,
हैं एकदेश व्रत श्रावक के सुहाते ॥६९॥

प्यारी क्षमा मृदुलता ऋजुता सचाई,
औ शौच संयम धरो तप धार भाई ।
त्यागो परिग्रह अकिंचन गीत गा लो,
तो ! ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगा लो ॥७०॥

साक्षात्कार यदि हो उस से, खड़ा है,
जो क्रोध का जनक बाहर में अड़ा है ।
पै क्रोध-लेश तक भी मन में न लाते,
पाते क्षमा धरम वे मुनि हैं कहाते ॥७१॥

हूँ श्रेष्ठ जाति कुल में श्रुत में यशस्वी,
ज्ञानी सुशील अतिसुन्दर हूँ तपस्वी ।
ऐसा नहीं श्रमण हो मन मान लाते,
औचित्य ! वे "परम मार्दव धर्म" पाते ॥७२॥

कौटिल्य-छोड़ मुनि चारित पालता है,
हीराभ सा विमल मानस धारता है ।
सो तीसरा परम आर्जव धर्म पाता,
है अन्त में नियम से शिव शर्म पाता ॥७३॥

मिश्री मिले वचन वे रुचते सभी को,
संताप हो श्रवण से न कभी किसी को ।
कल्याण हो स्वपर का, मुनि बोलता है,
सो सत्य धर्म उसका दृग खोलता है ॥७४॥

भोगाभिलाष जिसने मन से हटाया,
वैराग्य भाव दृढ़ से निज में जगाया ।
ऐसा महा मुनिपना मुनि ही निभाता,
सो, शौच धर्ममय जीवन है बिताता ॥७५॥

जो पालता समिति इन्द्रिय जीतता है,
है योग-रोध करता, व्रत धारता है ।
ऐसा महा श्रमण जीवन जी रहा है,
सद्धर्म संयम-सुधा वह पी रहा है ॥७६॥

फोड़ा कषाय घट को, मन को मरोड़ा,
तो साधु ने विषय को विष मान छोड़ा ।
स्वाध्याय ध्यान वन में निज को निहारा,
पाया नितान्त तप उत्तम धर्म प्यारा ॥७७॥

वैराग्य धार भव भोग स्वदेह से जो,
देखा स्वको यदि सुदूर विमोह से हो ।
तो त्याग धर्म समझा उसने लिया है,
संदेश यों जगत को प्रभु ने दिया है ॥७८॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग नंगा,
होता दुखी नहि सुखी बस नित्य चंगा ।
निर्द्वन्द्व हो विचरता अनगार होता,
भाई वही वर अकिंचन धर्म होता ॥७९॥

सर्वांग नग्न कर भी वनिता जनों के,
होते न मुग्ध जिनमें मुनि हैं अनोखे ।
तो ब्रह्मचर्य व्रत धारक वे रहे हैं,
कन्दर्प दर्प अपहारक वे रहे हैं ॥८०॥

सागार धर्म तज के अनगार होते,
शास्त्रानुसार यति के व्रतसार जोते ।
रीते रहे न शिव से अनिवार्य पाते,
यों धर्म चिंतन करो अयि ! आर्य तातें ॥८१॥

सागार धर्म यति धर्म निरे निरे हैं,
आत्मा विशुद्ध नय से उनसे परे हैं ।
मध्यस्थ भाव उनमें रखना इसी से,
शुद्धात्म चिंतन सदा करना रुची से ॥८२॥

सद् ज्ञान होय जिस भाँति उपाय द्वारा,
चिंता करे उस उपायन की सुचारा ।
चिंता वही परम बोधि अहो कहाती,
सो बोधि दुर्लभ अतीव मुझे सुहाती ॥८३॥

जो भी क्षयोपशम ज्ञानन की छटायें,
हैं हेय कर्म वश लो उपजी दशायें ।
आदेय मात्र निज आतम द्रव्य होता,
सद्ज्ञान सो यह सुनिश्चय भव्य होता ॥८४॥

होते असंख्यतम लोक प्रमाण सारे,
मूलोत्तरादि विधि ये पर द्रव्य न्यारे ।
आत्मा विशुद्धमय से निज द्रव्य भाता,
ऐसा जिनागम निरंतर नित्य गाता ॥८५॥

ऐसा सुचिंतन जभी दिन रात होता,
आदेय हेय वह क्या वह ज्ञात होता ।
आदेय हेय नहिं निश्चय में सयाने,
चिंता सुबोध मुनि सो भवकूल-पाने ॥८६॥

है वस्तुतः सकल-बारह भावनायें,
आलोचना सुखद शुद्ध समाधियाँ ये ।
ये ही प्रतिक्रमण है बस प्रत्यख्याना,
भा भावना नित अतः इनकी सयाना ॥८७॥

आलोचना सुसमता व समाधि पाले,
सच्चा प्रतिक्रमण का शुचिभाव भा ले ।
औ प्रत्यख्यान कर रे दिन रात भाई,
है चांदनी क्षणिक तो फिर रात आई ॥८८॥

भा बार बार बस बारह भावनायें,
ये भूत में शिव गये जिनभाव पाये ।
मैं बार बार उनको प्रणमूँ त्रिसंध्या,
मेरा प्रयोजन यही नमनं भविष्या ॥८९॥

जो भी हुए विगत में शिव और आगे,
होंगे नितान्त पुरुषोत्तम और आगे ।
माहात्म्य मात्र वह द्वादश भावना का,
क्या अर्थ है अब सुदीर्घ प्ररूपणाका ॥९०॥

जो कुन्द कुन्द मुनि नायक ने निभाया,
है निश्चयादि व्यवहार हमें सुनाया ।
भाता विशुद्ध मन से इस को वही है,
निर्वाण प्राप्त करता शिव की मही है ॥९१॥

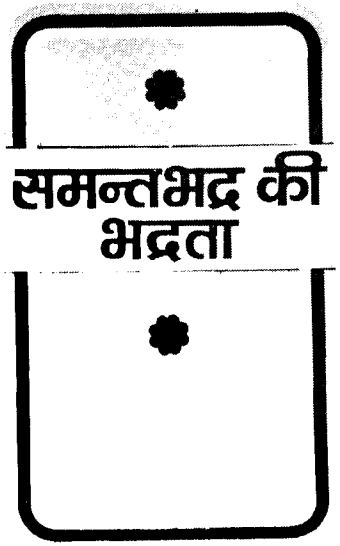

समन्तभद्र की भद्रता

मूल : स्वयंभू स्तोत्र (संस्कृत)

रचनाकार : आचार्य समन्तभद्र स्वामी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

समन्तभद्र की भद्रता

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय॥१॥

स्वामी समंतभद्र हो मैं तो रहा अभद्र।
मम उर में आ तुम बसो बन जाऊँ मैं भद्र॥२॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो कर से दो आशीष॥३॥

चन्दन चन्दर चाँदनी से जिन-धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन वच तन कर नीत॥४॥

स्वयंभु-थुति का मैं करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र कामना मम रही मोह मिटे परमाद॥५॥

वृषभनाथ-स्तवन

(ज्ञानोदय छन्द : लय : मेरी भावना)

पर से बोधित नहीं हुए पर, स्वयं स्वयं ही बोधित हो।
समकित-संपत्ति ज्ञान नेत्र पा जग में जग हित शोभित हो॥
विमोह-तम को हरते तुम प्रभु निज-गुण-गण से विलसित हो।
जिस विध शशि तम हरता शुचितम किरणावलि ले विकसित हो॥१॥

जीवन इच्छुक प्रजाजनों को जीवन जीना सिखा दिया।
असि, मषि, कृषि आदिक कर्मों को प्रजापाल हो दिखा दिया॥
तत्त्व-ज्ञान से भरित हुए फिर बुध-जन में तुम प्रमुख हुए।
सुर-पति को भी अलभ्य सुख पा विषय-सौख्य से विमुख हुए॥२॥

सागर तक फैली धरती को मन-वच-तन से त्याग दिया।
सुनन्द-नन्दा वनिता तजकर आतम में अनुराग किया॥
आतम-जेता मुमुक्षु बनकर परीषहों को सहन किया।
इक्ष्वाकू-कुल-आदिम प्रभुवर अविचल मुनिपन वहन किया॥३॥

समाधि-मय अति प्रखर अनल को निज उर में जब जनम दिया।
घोर घन घाति कर्म निर्दय बनकर भसम किया॥
शिव सुख दायक भविजनों को फिर परम तत्त्व का बोध दिया।
परम धर्म मय अमृत पान कर तुमने निज घर शोध लिया॥४॥

विश्व-विज्ञ हो विश्व-लोचन बुध-जन से नित वंदित हो।
पूरण-विद्या-मय तन धारक बने निरंजन नंदित हो॥
जीते छुट-पुट वादी-शासन अनेकान्त के शासक हो।
नाभि-नन्द हे! वृषभ जिनेश्वर मम-मन-मल के नाशक हो॥५॥

- दोहा -

आदिम तीर्थंकर प्रभो आदिनाथ मुनिनाथ!
आधि व्याधि अघ मद मिटे तुम पद में मम माथ॥१॥

शरण, चरण हैं आपके तारण तरण जहाज।
भव-दधि-तट तक ले चलो! करुणाकर जिनराज॥२॥

अजितनाथ-स्तवन

बन्धु-वर्ग तो खेल-कूद में भी विजयी तव मस्त रहा ।
अजेय-बनकर अमेय बल पा मुदित मुखी बन स्वस्थ रहा ॥
यह सब प्रभाव मात्र आपका दिवि से आ जब जन्म लिया ।
"अजित"-नाम तव सार्थक रख तव परिजन सार्थक जन्म किया ॥१॥

अजेय शासन के शासक थे अनेकान्त के पोषक थे ।
भविजन हित-सत पथदर्शक थे अजित नाथ ! जग-तोषक थे ॥
वांछित-शिव-सुख, मंगल पाने मुमुक्षु जन अविराम यहाँ ।
आज ! अभी भी लेते जिन का परम सुपावन नाम महा ॥२॥

भविजन का सब पाप मिटे बस यही भाव ले उदित हुए ।
मुनि नायक प्रभु समुचित बल ले घाति-घात कर मुदित हुए ॥
मेघ-घटा बिन नभ-मंडल में दिनकर जिस विध पूर्ण उगा ।
कमल-दलों को खुला-खिलाता, अन्धकार को पूर्ण भगा ॥३॥

चन्दन-सम शीतल जल से जो भरा लबालब लहराता ।
तपन ताप से तपा मत्त गज उस सर में ज्यों सुख पाता ॥
धर्म-तीर्थ तव परम-श्रेष्ठ शुचि जिसमें अवगाहन करते ।
काम-दाह से दग्ध दुखी जन पल में सुख पावन वरते ॥४॥

शत्रु मित्र में समता धरकर परम ब्रह्म में रमण किया ।
आत्म-ज्ञान-मय सुधा-पान कर कषाय-मल का वमन किया ॥
आतम-जेता अजित-नाथ हो चेतन-श्री का वरण किया ।
जिन-पद-संपद-प्रदान कर दो तुम-पद में "यह" नमन किया ॥५॥

- दोहा -

जित इन्द्रिय जित मद बने, जित भव विजित कषाय।
अजित-नाथ को नित नमूँ, अर्जित दुरित पलाय॥१॥

कोंपल पल-पल कों पले, वन में ऋतु-पति आय।
पुलकित मम जीवन-लता, मन में जिन पद पाय॥२॥

शम्भवनाथ-स्तवन

ऐहिक सुख-तृष्णामय रोगों से जो पीड़ित जग जन हैं ।
उन्हें निरोगी पूर्ण बनाने वैद्य रहे शंभव जिन हैं ॥
प्रति-फल की पर वाँछा कुछ नहिं बिना-स्वार्थ परहित रत हैं ।
वैद्य लोग ज्यों रोग मिटाते दया-भाव से परिणत हैं ॥१॥

अहंकार-मय विभाव भावों मिथ्या-मल से रंजित है ।
क्षणिक रहा है त्राण-हीन है जगत रहा सुख वंचित है ॥
जनन-मरण से जरा रोग से पीड़ित दुःखित विकल अहा !
उसे किया जिन निरंजना-मय शान्ति पिला कर सबल महा ॥२॥

बिजली-सम चलनीवी चंचल इन्द्रिय-सुख है तनिक रहा ।
तृष्णा-मय-मारी के पोषण का कारण है क्षणिक रहा ॥
तृष्णा की वह वृद्धि, निरंतर उपजाती है ताप निरा ।
ताप जगत को पीड़ित करता जिन कहते, तज पाप जरा ॥३॥

बंध-मोक्ष क्या उनका कारण सुफल मोक्ष का कौन रहा ?
बद्ध जीव औ मुक्त जीव सब जग में रहते कौन कहाँ ?
ये सब वर्णन देव ! तुम्हारे स्याद्-वाद मत में पाते ।
एकान्ती-मत में ना, पाते शिव-पथ-नेता तुम तातैं ॥४॥

पुण्य बर्धनी तुम स्तुति करने इन्द्र विज्ञ असमर्थ रहा ।
किन्तु अज्ञ मैं स्तोत्र कार्य में उद्यत हूँ ना अर्थ रहा ॥
तदपि भक्तिवश तुम-पद-पंकज-स्तुति, अलि बल अनिवार्य किया ।
शिव-सुख की कुछ गंध सुँघा दो आर्य देव ! शुभ कार्य-किया ॥५॥

- दोहा -

तुम-पद पंकज से प्रभो झर-झर-झरी पराग ।
जब तक शिव-सुख ना मिले पीऊँ षट्पद जाग ॥१॥

भव-भव, भव-वन भ्रमित हो भ्रमता-भ्रमता आज ।
शंभव-जिन भव शिव मिले पूर्ण हुआ मम काज ॥२॥

अभिनन्दननाथ-स्तवन

क्षमा-सखी युत दया-वधू में सतत निरत हो नन्दन हो ।
गुण-गण से अति परिवर्धित हो इसीलिए अभिनन्दन हो ॥
''लक्ष'' बना कर समाधि भर का समाधि पाने यमी बने ।
बाहर-भीतर नग्न बने प्रभु ग्रन्थ तजे सब दमी बने ॥१॥

निरे अचेतन तन-मन-धन हैं वचन बंधु-जन तनुज रहें ।
हम इनके ये रहें हमारे इस विध जग के मनुज कहें ॥
मोह-भूत के वशीभूत हो अस्थिर को स्थिर समझे हैं ।
तत्त्व-ज्ञान प्रभु उन्हें बताया उलझे जन-जन सुलझे हैं ॥२॥

अशन-पान कर, क्षुधा तृषा से जनित दुःख के वारण से ।
तन तन धारक नहिं ध्रुव बनते, क्षणिक विषय सुख पानन से ॥
इसीलिए ये विषय सुखादिक किसी तरह नहिं गुणकारी ।
इस विध इस जग को समझाया प्रभो आप गुणगणधारी ॥३॥

यदपि दास बन विषयों का शठ लोलुपता से पूर रहा ।
तदपि नृपादिक भय से परवश दुराचार से दूर रहा ॥
इस पर भव में ''दुखद'' विषय है इस विध जो जन यदि जाने ।
किस विध विषयन में फिर रमते यही कहा प्रभु, बुध माने ॥४॥

विषयों की वह विषय-वासना ताप बढ़ाती क्षण-क्षण है ।
तृष्णा फलतः द्विगुणित, जिस सुख, से तोषित ना जड़ जन हैं ॥
सदुपदेश यों देते जिससे निहित-लोक-हित तुम मत में ।
अतः शरण हो सुधी जनों के मुनि गण के सब अभिमत में ॥५॥

- दोहा -

विषयों को विष लख तजूँ बन कर विषयातीत ।
विषय बना ऋषि ईश को गाऊँ उनका गीत ॥१॥

गुण धारे पर मद नहीं मृदुतम हो नवनीत ।
अभिनन्दन जिन ! नित नमूँ मुनि वन मैं भवभीत ॥२॥

सुमतिनाथ-स्तवन

सब पर तत्त्व का सही सुनिनय सूक्तियों से स्वतः लिया ।
सुमति-नाथ मुनि 'सुमति' नाम को सार्थक तुमने अतः किया ।
शेषमतों में क्रिया-कर्म औ कारक कारण की विधियाँ ।
चूँकि सही नहिं सभी सर्वथा एकान्तापन की छवियाँ ॥१॥

तुमसे स्वीकृत तत्त्व सही है अनेक भी है एक रहा ।
पर्यय वश वह अनेक देखता द्रव्य अपेक्षा एक रहा ॥
इक उपचारी इनमें हो तो दूजा झूठा, इक लय से ।
शेष मिटेगा अवाच्य जिससे तत्त्व बनेगा निश्चय से ॥२॥

तत्त्व कथंचित् असत्त्व सत् ही अपर अपेक्षा चहक रहा ।
नभ में यद्यपि न पुष्प खिला पर, तरु पर खुल-खिल महक रहा ।
तत्त्व, सत्त्व और असत्त्व बिन यदि, रहा, नहीं सम्मानित है ।
तुम मत से प्रभु अन्य सभी मत, स्वीय वचन से वाधित हैं ॥३॥

तत्त्व सर्वथा नित्य रहा जो मिटता-उगता नहीं कभी ।
तथा क्रिया औ कारक विधियाँ उसमें बनती नहीं कभी ॥
जनन असत का नहीं सर्वथा सत भी वह ना विनस रहा ।
दीपक, खुद बुझ, सघन तिमिर बन, पुद्गल-पन से विहस रहा ॥४॥

नास्तिपना और अस्तिपना है इष्ट कथंचित् यही सही ।
वक्ता के कथनानुसार ये मुख्य-गौण हो कभी कहीं ॥
तत्त्व-कथन की सही प्रणाली सुमति-नाथ प्रभु तव प्यारी ।
स्तुति करती है तव, मम मंदा मति, अमंद हो सुख प्याली ॥५॥

- दोहा -

सुमति नाथ प्रभु सुमति हो मम मति है अति मंद ।
बोध कली खुल-खिल उठे महक उठे मकरन्द ॥१॥

तुम जिन मेघ मयूर मैं गरजो बरसो नाथ ।
चिर प्रतीक्षित हूँ खड़ा ऊपर कर के माथ ॥२॥

पद्मप्रभ-स्तवन

शुचिमय तन-चेतन लक्ष्मी से मंडित निज में निवस रहे ।
लाल-लाल फल पलाश छवि से अहो पदमप्रभ ! विलस रहे ॥
लोकबन्धु हो भविक-कमल ये तुम दर्शन से खिलते हैं ।
जिस विध सर में सरोज दल ये दिनकर को लख खुलते हैं ॥१॥

अक्षय सुख-मय लक्ष्मी वर के दिव्य भारती पाय लसे ।
पूर्णमुक्ति से पूर्ण प्रभो ! तुम अनंतशः गुण माँय बसे ।
तव रचित था समवशरण तव उसमें नहीं, अनुरक्त हुए ।
दिव्य देशना त्याग अन्त में सर्वज्ञान युत मुक्त हुए ॥२॥

नयन मनोहर किरणावलि छवि आप देह से उछल रही ।
बाल भानु की द्युति सम भाती धरती छूने मचल रही ॥
नर सुर से जो भरी सभा ललित लाल अति करा रही ।
पद्म राग-मय पर्वत जिस विध स्वीय-पार्श्व को विभामयी ॥३॥

सहस्र दल वाले कमलों के मध्य आप चलने वाले ।
चरण-कमल से नभ-तल को प्रभु पुलकित अति करने वाले ॥
मत्त मदन का मद-मर्दन कर निर्मद जीवन बना लिया ।
विश्वशान्ति के लिए विश्व में विचरण इच्छा बिना किया ॥४॥

तुम में हे ! ऋषिवर गुण-गण का लहराता वह सिन्धु महा ।
इन्द्र विज्ञ तव स्तुति करके भी पी न सकता वह बिन्दु अहा !!
अज्ञ, सफल क्या ? मैं हो सकता स्तुति करने जो उद्यत हूँ ।
बाध्य मुझे तव भक्ति कराती तुम पद में तव अवनत हूँ ॥५॥

- दोहा -

शुभ्र-सरल तुम, बाल तव कुटिल कृष्ण-तम नाग।
तव चिति चित्रित ज्ञेय से किन्तु न उसमें दाग ॥१॥

विराग पद्मप्रभु आपके दोनों पाद-सरागा।
रागी मम मन जा वहीं पीता तभी पराग ॥२॥

सुपार्श्वनाथ-स्तवन

निज आतम में चिर स्थिर बसना भविक जनों का स्वार्थ नहीं।
भाँति-भाँति के क्षणभंगुर सब भोग कभी ये स्वार्थ नहीं ॥
तृष्णा का वह अविरल बढ़ना ताप शान्ति के हेतु नहीं।
सुपार्श्व प्रभु का कथन यही है भवसागर का सेतु सही ॥१॥

जंगम चालक जभी चलाता, स्थान् यंत्र तब चल पाता।
तथा जीव से तन चल पाता, जड़मय तन की यह गाथा ॥
दुखद विनाशी रुधिरमांस मय, तन है इस विध बता दिया।
तन की ममता अतः वृथा है, शिव का तुमने पता दिया ॥२॥

बाह्याभ्यंतर कारण द्वारा बनी हुई कृति जो दिखती।
होनहार सो हो कर रहती रोके वह नहिं रुक सकती ॥
बाहर कारण सब पाकर भी अहंकार से दुखित हुए।
सब कार्यों में विफल रहे शठ, प्रभु तुम कहते सुखित हुए ॥३॥

मात्र मरण से भले भीति हो मोक्ष-धाम वह नहिं मिलता।
शिव की वांछा-भर से शिव नहिं मिलता जीवन नहिं खिलता ॥
मृत्यु-भीति से काम-चोर से ठगा हुआ जड़ अज्ञानी।
वृथा व्यथा है सहता फिर भी, तुमने कह दी यह वाणी ॥४॥

धर्म-रत्न की गवेषणा में निरत जनों के नायक हो।
जननी-सम जड़ जन के हित प्रभु सदुपदेश के दायक हो ॥
सकल विश्व के जड़-चेतन मय सकल तत्त्व के ज्ञायक हो।
इसीलिए मैं तव गुण-गण-का गीत गा रहा, गायक हो ॥५॥

- दोहा -

अबंध भाते काल के वरु विध विधि का बंध।
सुपार्श्व प्रभु निज प्रभु पना पा पाये आनन्द ॥१॥

बांध-बांध विधि-बंध में अन्ध बना मति मन्द।
ऐसा बल दो अंध को बंधन तोड़ूँ द्वन्द्व ॥२॥

चन्द्रप्रभ-स्तवन

अपर चन्द्र हो अनुपम जग में जगमग जगमग दमक रहे।
चन्द्र-प्रभा सम नयन-मनोहर गौर वर्ण से चमक रहे ॥
जीते निज के कषाय-बंधन बने तभी प्रभु जिनवर हो।
चन्द्रप्रभो ! मम नमन तुम्हें हो सुरपति नमते ऋषिवर हो ॥१॥

परम ध्यानमय दीपक उर में जला आत्म को जगा दिया।
मोह-तिमिर को मानस-तल से पूर्ण-रूप से भगा दिया ॥
हे प्रभु ! तव तन की श्रीछवि से बाह्य सघनतम दूर भगा।
दिनकर को लख, तम ज्यों भगता, पूरब में द्युति-पूर उगा ॥२॥

पूरे भीगे कपोल जिनके मद से गज गण मद-धारे।
सिंह-गर्जना सुनते, डरते, बनते ज्यों निर्मद सारे ॥
निजमत स्थिति से पूर्ण मत्त हो प्रतिवादी त्यों अभिमानी।
स्याद्वाद तव सिंहनाद सुन बनते वे पानी-पानी ॥३॥

तपः साधना अद्भुत करके हित-उपदेशक आप्त हुए ।
परम इष्ट पद को तुम प्रभुवर त्रिभुवन में जब प्राप्त हुए ।
अनन्त सुख के धाम बने हो विश्व-विज्ञ अविनश्वर हो ।
जग-दुख-नाशक शासक के ही शासक तारक ईश्वर हो ॥४॥

भगवन् तुम शशि, भव्य कुमुद ये खिलते हैं दृग खोल रहे ।
राग-रोष मय मेघ तुम्हारे चेतन में नहिं डोल रहे ॥
स्याद्वाद मय विशद वचन की मणिमय माला पहने हो ।
परमपूत हो, पावन कर दो, मम मन वस में रहने दो ॥५॥

- दोहा -

चंद्र कलंकित, किन्तु हो चन्द्र प्रभु अकलंक ।
वह तो शंकित केतु से शंकर तुम निःशंक ॥१॥

रंक बना हूँ मम अतः मेटो मन का पंक ।
जाप जपूँ जिन-नाम का बैठ सदा पर्यंक ॥२॥

पुष्पदंत-स्तवन

विरोध एकान्ती का करता तर्कादिक से सिद्ध सही ।
तदतत्-स्वभाव धारक यानी मुख्य-गौण हो कहीं-कहीं ॥
सुविधि नाथ प्रभु आत्मज्योति से तत्त्व प्ररूपित सही किया ।
तुम मत से विपरीत मतों ने जिसका स्वाद न कभी लिया ॥१॥

स्वभाव-वश औ अन्यभाव-वश तत्त्व रहा वह नहीं रहा ।
क्योंकि कथंचित् उसी तरह ही प्रतीत होता सही रहा ॥
निषेध-विधि में कभी सर्वथा अनन्यपन या अन्यपना ।
होते नहिं हैं जिन मत गाता तत्त्व अन्यथा शून्य बना ॥२॥

वही रहा यह प्रतीत इसविध तत्त्व अतः यह नित्य रहा ।
अन्य रूप ही झलक रहा है इसीलिए नहिं नित्य रहा ॥
बाहर-भीतर के कारण औ कार्य-योग वश, तत्त्व वही ।
नित्यानित्यात्मक संगत है तव मत का यह सत्त्व सही ॥३॥

एक द्रव्य वश अनेक गुण वश वाच्य रहा वह वाचक का ।
"वन है तरु हैं" इस विध कहते भाव विदित क्यों गायक का ॥
सर्व धर्म के कथन चाहते गौणपक्ष पर नहिं माने ।
एकान्ती मत कहते उनको स्याद् पद दुखकर, बुध जाने ॥४॥

गौण-मुख्य मय अर्थ-युक्त तव दिव्य वाक्य है सुख-कारी ।
यदपि तदपि तुम मत से चिढ़ते उनको निश्चित दुखकारी ॥
साधु राज हे चरण-कमल तव सुर-नर-पति से वंदित हैं ।
अतः मुझे भी वन्दनीय हैं सुरभित-सौम्य-सुगंधित हैं ॥४॥

- दोहा -

सुविध ! सुविधि के पूर हो, विधि से हो अति दूर ।
मम मन से मत दूर हो, विनती हो मंजूर ॥१॥

बाल मात्र भी ज्ञान ना मुझ में मैं मुनि-बाल ।
बबाल भय का मम मिटे प्रभु पद में मम भाल ॥२॥

शीतलनाथ-स्तवन

ना तो मलयाचल चंदन औ चन्द्र चान्दनी शीतल है ।
शीतल गंगा का भी जल नहिं मणिमय माला शीतल हैं ॥
हे मुनिवर तव वचन-किरण में प्रशम भाव-मय नीर भरा ।
शीतलतम है, बुधजन जिसका सेवन करते पीर हरा ॥१॥

विषय-सौख्य की चाह-दाह से क्लान्त किया था तप्त किया ।
निज के मन को ज्ञान-नीर से शान्त किया तुम तृप्त किया ॥
वैद्य-राज ज्यों मंत्र-शक्ति से जहर शक्ति को हरता है ।
जहर-दाह से मूर्च्छित निज के तन को सुशान्त करता है ॥२॥

जीवन की औ काम सौख्य की तृष्णा के जो नौकर हैं ।
जड़ दिन-भर श्रम कर थक रात बिताते सो कर हैं ॥
शुचि-तम निज आतम मेंतुम तो निशि-दिन निश्चल जाग रहे ।
यही आर्य ! अनिवार्य कार्य तव, प्रमाद रिपु-संग त्याग रहे ॥३॥

सुर-सुख की, सुत-धन की, धन की तृष्णा जिनके मन में है ।
ऐसे ही कुछ जड़ जन, तापस, बन तप तपते वन में हैं ॥
किन्तु, जनन-मृति-जरा मिटाने, समधी बन यम धार लिया ।
मन वच तन की क्रिया मिटा दी, तुमने भव-दधि पार किया ॥४॥

धवलित केवलज्ञान-ज्योति हो जन्म रहित दुख सर्व हरें ।
आप कहाँ ये अन्य कहाँ जड़ अल्प ज्ञान ले गर्व करें ॥
शिव-सुख के अभिलाषी बुधजन अतः सदा तव गुण गाते ।
शीतल प्रभु मुझ शीतल कर दो तुम्हें भजे मम मन तातें ॥५॥

- दोहा -

शीतल चन्दन है नहीं शीतल हिम ना नीर ।
शीतल जिन ! तव मत रहा शीतल, हरता पीर ॥१॥

सुचिर काल से मैं रहा मोह-नींद से सुप्त ।
मुझे जगा कर, कर कृपा प्रभो करो परितृप्त ॥२॥

श्रेयांनाथ-स्तवन

दोष-रहित, शुभ वचन सुधारों श्रेयन ! जिन ! आप गला दिया ।
हित पथ दर्शित कर हित पथ पर हितैषियों को चला दिया ॥
एक अकेले विलसित हो तुम त्रिभुवन में ज्यों उदित हुआ ।
मेघ-रहित इस विशाल नभ में रवि लसता, जग मुदित हुआ ॥१॥

अस्तिपना जो नास्तिपना मय प्रमाण का वह विषय बना ।
अस्ति-नास्तिपन में इक होता गौण एक तो प्रमुख बना ॥
प्रमुख बनाया, जिसको उसके नियमन का नय हेतु रहा ।
दृष्टान्त का रहा समर्थक जिन दर्शन का केतु रहा ॥२॥

प्रासंगिक जो मुख्य कहाता तव मत कहता पुण्य मही ।
प्रासंगिक जो नहीं रहा सो गौण भले पर शून्य नहीं ॥
मित्र कथंचित शत्रु मित्र हो किसी अपेक्षा अनुभव हो ।
सगुण गुणी अस्तिनास्ति वश वस्तु कार्य में सक्रिय हो ॥३॥

समुचित है दृटान्त जभी से लोक सिद्ध वह मिल जाता ।
वादी-प्रतिवादी का झगड़ा स्वयं शीघ्र तव मिट जाता ॥
मतैकान्त का पोषक तव मत में मिलता दृष्टान्त नहीं ॥
साध्य-हेतु दृष्टान्तन में मत चूंकि श्रेष्ठ नैकान्त सही ॥४॥

स्याद-वाद मय रामबाण से रगरग जिसको छेद दिया ।
एकान्ती मत का मस्तक प्रभु पूर्ण रूप से भेद दिया ॥
लाभ लिया कैवल्य विभव का मोह-शत्रु का नाश किया ।
अत: बने अरहन्त तभी मम मन तुम पद में वास किया ॥३॥

- दोहा -

अनेकान्त की कान्ति से हटा तिमिर एकान्त ।
नितान्त हर्षित कर दिया क्लान्त विश्वको शान्त॥१॥

निश्रेयस् सुख-धाम हो हे जिन वर श्रेयांस ।
तव थुति अविरल में करूँ जब लौं घट में श्वास॥२॥

वासुपूज्यनाथ-स्तवन

मंगल कारक गर्भ जन्म मय कल्याणों में पूज्य हुए ।
वासुपूज्य प्रभु शत इन्द्रों से तुम पद-पंकज पूज्य हुए ॥
हे मुनि-नायक लघु धी में हूँ मेरे भी अब पूज्य बनें ।
पूजा क्या नहिं दीपक से हो रवि की जो द्युति-पुंज तनें ॥१॥

वीतराग जिन बने तुम्हें अब पूजन से क्या अर्थ रहा ।
बैरी कोई रहे न तब फिर निंदक भी अब व्यर्थ रहा ॥
फिर भी तव गुण-गण-स्मृति से प्रभु परम लाभ है वह मिलता ।
निर्मलतम जीवन है बनता मम मन-मल सब यह धुलता ॥२॥

पूजन पूजक पूज्य प्रभो ! जिन तब जब करता भव्य यहाँ ।
अल्प पाप तब पाता फिर भी पाता पावन मुख्य महा ॥
किन्तु पाप वह ताप नहीं है घटना-भर अनिवार्य रही ।
सुधा-सिन्धु में विष-कण करता बाधक का कब कार्य कहीं ? ॥३॥

उपादानमय मूल हेतु का बाह्य द्रव्य ले सहकारी ।
श्रावक जब तक पूजन करता पाप-पुण्य का अधिकारी ॥
किन्तु साधु जब पूजन करते संग-रहित ही जो रहते ।
पुण्य-पाप में भाव शुभाशुभ केवल कारण, जिन कहते ॥४॥

बाह्याभ्यन्तर हेतु परस्पर यथायोग्य ये मिले सही ।
तभी कार्य सब जग के बनते द्रव्य धर्म बस दिखे यही ॥
मोक्ष कार्य में यही व्यवस्था पर इससे विपरीत नहीं ।
अत: वन्द्य तुम बुध जन से ऋषि पति हो, कहता गीत सही ॥५॥

- दोहा -

औ न दया बिन धर्म ना, कर्म कटे बिन धर्म ।
धर्म मर्म तुम समझकर, कर लो अपना कर्म ॥

वासुपूज्य जिनदेव ने, देकर यूँ उपदेश ।
सबको उपकृत कर दिया, शिव में किया प्रवेश ॥

विमलनाथ-स्तवन

तत्व नित्य या क्षणिक सर्वथा इत्यादिक जो नय गाते ।
कलह परस्पर करते मरते सभी परस्पर भय खाते ॥
विमल नाथ प्रभु अनेकान्तमय तुम-मत के जो नय मिलते ।
बने परस्पर पूरक, हिल-मिल सभी कथंचित पथ चलते ॥१॥

निजी सहायक शेष कारकों को आपेक्षित करते हैं ।
एक-एक कर जिस विध कारक कार्य सिद्ध सब करते हैं ॥
समानता को विशेषता को लखते हैं क्रमवार भले ।
उस विध तव नय गौण-मुख्य हो वक्ता के अनुसार चले ॥२॥

ज्ञानमयी हो स्व-पर प्रकाशक प्रमाण जिस विध निश्चित हैं ।
जैनागम में निराबाध वह स्वीकृत हैं औ समुचित हैं ॥
अभेद-मय औ भेद-ज्ञान में सदा मित्रता शुद्ध रही ।
समानता और विशेषता की समष्टि जिन से सिद्ध रही ॥३॥

किसी वस्तु की विशेषता का, कथक विशेषण होता हैं ।
विशेषता जिसकी की जाती विशेष्य बस वह होता हैं ॥
किन्तु विशेषण विशेष्य इनमें नित्य निहित सामान्य रहा ।
स्यात् पद-वश प्रासंगिक होता मुख्य-गौण तब अन्य रहा ॥४॥

स्यात् पद भूषित तव नय बनते सुर सुख शिव सुख-दाता हैं ।
जिस विध पारस योग प्राप्त कर लोह स्वर्ण बन जाता है ॥
अतः हितैषी सविनय होते तव पद में प्रणिपात रहे ।
परम पुण्य का फलतः बुधजन लाभ लुटा दिन-रात रहे ॥५॥

- दोहा -

कराल काला व्याल सम कुटिल चाल का काल ।
मार दिया तमने उसे फाड़ा उसका गाल ॥१॥

मोह-अमल वश समल बन निर्बल मैं भयवान ।
विमलनाथ तुम अमल हो संबल दो भगवान ॥२॥

अनन्तनाथ-स्तवन

चिर से जीवित तुम उर में था मोह-भूत जो पाप-मयी ।
अमित-दोष का कोष रहा था जिसका तन परिताप मयी ॥
उसे जीत कर बने विजेता आत्म तत्त्व के रसिक हुए ।
अतः नाम तव अनन्त सार्थक, तव सेवक हम भविक हुए ॥१॥

समाधि-मय गुणकारी औषध, का तुमने अनुपान किया ।
दुर्निवार संतापक दाहक काम रोग का प्राण लिया ॥
रिपु-सम दुःखद कषाय-दल का और पूर्णतः नाश किया ।
पूर्णज्ञान पर परमजोति से त्रिभुवन को परकाश दिया ॥२॥

भरी लबालब श्रम के जल से भय-मय लहरें उपजाती ।
विषय-वासना-सरिता तुममें चिर से बहती थी आती ॥
उसे सुखा दी अपरिग्रहमय तरुण अरुण की किरणों से ।
मुक्ति-वधु वह हुई प्रभावित इसीलिए तव चरणों से ॥३॥

भक्त बना तब निरत भक्ति में भुक्ति मुक्ति सुख वह पाता ।
तुम से जो चिढ़ता वह निश्चित प्रत्यय-सम मिट दुख पाता ॥
फिर भी निन्दक वंदक तुम को सम हैं समता-धाम बने ।
तव परिणति प्रभु विचित्र कितनी निज रस में अविराम सने ॥४॥

तुम ऐसे हो तुम वैसे हो मम-लघु धी का कुछ कहना ।
केवल प्रलाप-भर हैं मुनिवर ! भक्ति-भाव में बस बहना ॥
तव महिमा का पर नहीं पर अल्प मात्र भी तारण हैं ।
अमृत-सिन्धु का स्पर्श तुल्य बस शान्ति सौख्य का कारण हैं ॥५॥

- दोहा -

अनन्त गुण पा कर दिया अनन्त भव का अन्त ।
अनन्त सार्थक नाम तव अनन्त जिन जयवन्त ॥१॥

अनन्त सुख पाने सदा भव से हो भयवन्त ।
अन्तिम क्षण तक मैं तुम्हें स्मरूं स्मरें सब सन्त ॥२॥

धर्मनाथ-स्तवन

वीतराग-मय धर्मतीर्थ को किया प्रसारित त्रिभुवन में ।
धर्म नाम तव सार्थक गणधर गुरू जो मुनिगण में ॥
सघन कर्म के वन को तपमय तेज अनल से जला दिया ।
शंकर बन कर सुखकर शिव-सुख पाकर जग को जगा दिया ॥१॥

भद्र भव्य सुर-नरपति गण नत तुम पद में अति मोहित हैं ।
मुनिगण-नायक गणधर से प्रभु आप घिरे हैं शोभित हैं ॥
जैसा नभ में पूर्ण कला ले शान्त चन्द्रमा निखरा हो ।
जिसके चारों ओर विहसता तारक-दल भी बिखरा हो ॥२॥

छत्रादिक से सजा हुआ जिस समवशरण में निवस रहे ।
विरत किन्तु निज तन से भी हो निरीह सब से विलस रहे ॥
नर, सुर, किन्नर भव्य जनों को शिव-पथ दर्शित करा रहे ।
प्रति-फल की कुछ वांछा नहिं पर हमको हर्षितकरा रहे ॥३॥

तन की मन की और वचन की चेष्टाएँ तब होती हैं ।
किन्तु बिना इच्छा के केवल सहज भाव से होती हैं ॥
थोथी यद्वा-तद्वा भी नहिं सही ज्ञान से सहित सभी ।
धीर! नीर-निधि-सम तव परिणति, अचिंत्य-लखबुध, मुक्ति सभी ॥४॥

मानवता से ऊपर उठ कर ऊपर उन्नत चढ़े हुए ।
सुर, सुर-पालक देवों में भी पूज्य हुए हो बड़े हुए ॥
इसीलिए देवाधिदेव हो परम इष्ट जिन ! नाथ हुए ।
हम पर करुणा कर दो शिव-सुख, तुम पद में नत-माथ हुए ॥५॥

- दोहा -

दया धर्म पर धर्म है अदया-भाव अधर्म ।
अधर्म तज प्रभु धर्म ने, समझाया पुनि धर्म ॥१॥

धर्मनाथ को नित नमूं सधे शीघ्र शिव शर्म ।
धर्म-मर्म को लख सकूं मिटे मलिन मम कर्म ॥२॥

शान्तिनाथ-स्तवन

प्रजा सुरक्षित कर रिपुओं से निजी राज्य अविभाज्य किया ।
सुचिर काल तक प्रतापशाली अजेय राजा राज्य किया ।
स्वयं आप मुनि बन वन में पापों का अतिशमन किया ।
शान्तिनाथ जिन ! दया-धाम हो शान्ति-रमा से रमण किया ॥१॥

पुण्य-पुरुष चक्री बन तुमने चक्र दिखा कर डरा दिये ।
छहों खण्ड के नराधिपों को पूर्ण रूप से हरा दिये ॥
समाधि-मय निज दिव्य चक्र पुनि मोह-शत्रु पे चला दिया ।
दुर्नय-दुर्जय दुष्ट क्रूर को मिटटी में बस मिला दिया ॥२॥

राजाओं-के-राजा बन कर राजसभा में राजित थे ।
लघु राजाओं के सुख-साधन तुम पर ही निर्धारित थे ॥
किन्तु पुनः जब निजाधीन हो आर्हत पद को प्राप्त हुए ।
अगणित अमरासुर पतिगण में हुए सुशोभित, आप्त हुए ॥३॥

नरेन्द्र जब थे, नरपति-दल ने तब चरणों में शरण लिया ।
सदय बने जब मुनिवर तुम को दया-धर्म को नमन किया ॥
पूज्य बने जिन तव पद युग में सुरदल आ प्रणिपात हुआ ।
ध्यानी बनते, कर्म विनसता, हाथ जोड़, नत-माथ हुआ ॥४॥

निजी दोष सब पूर्ण मिटा कर, प्रथम प्रशम बन शान्त हुए ।
शान्ति दिलाते शरणागत को, सुचिर काल से क्लान्त हुए ॥
शान्तिनाथ जिन ! शान्ति विधायक, शान्त मुझे अब आप करो ।
शरण, चरण में मुझे दिला कर भव-भव का मम ताप हरो ॥५॥

- दोहा -

शान्तिनाथ हो शान्त, कर सातासाता सान्त ।
केवल, केवल-ज्योतिमय कलान्ति मिटी सब ध्वान्त ॥१॥

सकल ज्ञान से सकल को जान रहे जगदीश ।
विकल रहे जड़ देह से विमल नमूँ नतशीश ॥२॥

कुन्थुनाथ-स्तवन

चक्री बन शासित नरपों को प्रथम किया यश सुख पाने ।
तीर्थंकर बन धर्म-चक्र, फिर चला दिया निज-घर जाने ॥
जरा जनन मृति रोग मिटाने सदय स्वीजन बना लिया ।
कुन्थु कृमी आदिक जीवों पर, कुन्थु जिनेश्वर दया किया ॥१॥

स्वभाव से ही तृष्णा-ज्वाला सदा धधकती वह जलती ।
भोग्य वस्तुएँ भले भोग लो तृष्णा बुझती नहिं बढ़ती ॥
विषय-सौख्य तो निमित्त केवल, हर सकते ! तन-ताप भले ।
विमुख हुए हैं अतः विषय से, मुनि बन, शिव-पथ आप चले ॥२॥

कष्ट-साध्य बहु बाह्य तपों से तन को मन को जला दिया ।
आभ्यंतर तप उद्दीपित हो यही प्रयोजन बना लिया ॥
आर्त ध्यान को, रौद्र ध्यान को, पूर्ण ध्यान से हटा दिया,
धर्म ध्यान में, शुक्ल ध्यान में, क्रमशः निज को बिठा दिया ॥३॥

रत्नत्रयी मय होम-कुण्ड को योग अनल से तेज किया ।
होमा जिसमें घाति कर्म को यम पुर रिपु को भेज दिया ॥
अतुल वीर्य पा सकल ज्ञेय के प्रतिपादक आगम-कर्त्ता ।
विलस रहे प्रभु मेघ-रहित नभ में जिस विध रवि तम-हर्ता ॥४॥

विद्या-धन का निधान दुर्लभ मुनिवर ! तुम में अहा खुला ।
ब्रह्मा महेश आदिक को पर जिसका कण भी कहाँ मिला ॥
अमिट-अमित हो स्तुत्य बने हो जन्म-रहित जिन-देव ! तभी ।
निज हित-इच्छुक अतः सुधी ये तुम्हें भजे स्वयमेव सभी ॥५॥

- दोहा -

ध्यान-अग्नि से नष्ट कर प्रथम पाप परिताप ।
कुन्थुनाथ पुरुषार्थ से बने न अपने-आप ॥१॥

ऐसी मुझ पे हो कृपा मम मन मुझमें आय ।
जिस विध पल में लवण है जल में घुल मिल जाय ॥२॥

अरहनाथ-स्तवन

किसी पुरुष के अल्प गुणों का बढ़ा-चढ़ा कर यश गाना ।
जग में बुधजन कविजन कहते स्तुति का वह सब बाना ॥
पूज्य बने हो ईश बने हो अगणित गुण के धाम बने ।
ऐसी स्थिति में आप कहो फिर कैसे स्तुति का काम बने ॥१॥

यदपि मुनीश्वर की स्तुति करना रवि को दीपक दिखलाना ।
तदपि भक्ति-वश मचल रहा मन कुछ रहने को अनजाना ॥
तथा अल्प भी जो तव यश का भविक यहाँ गुण-गान करें ।
शुचितम बनता, क्यों ना हम फिर तव थति-रस का पान करें ॥२॥

चौदह मनियाँ निधियाँ नव भी चक्री तुम थे तुम्हें मिली ।
हाथी छोड़े कोटि, नारियाँ कुछ कम लाखों तुम्हें वरी ॥
मुमुक्षुपन की किन्तु किरण जो तुम में जगमग जभी जगी ।
सार्वभौम पदवी भी तुमको जीरण तृण सम सभी लगी ॥३॥

सविनय द्वय नयनों से तव मुख छवि को जब अनिमेष लखा ।
किन्तु तृप्त वह हुआ नहीं पर लख-लख कर अभरेश थका ॥
सहस्त्र लोचन खोल लिये फिर निजी ऋद्धि से काम लिया ।
चकित हुआ तब अंग-अंग का प्रभु दर्शन अभिराम किया ॥४॥

मोहरूप रिपु-भूप, पाप-का-बाप, ताप का कारक है ।
कषाय-मय सेना का चालक, चेतन निधि का हारक है ॥
समकित-चारित-भेदज्ञान मय कर में खर तर-बार लिया ।
किया वार निज मोह-शत्रु पर धीर आपने, मार दिया ॥५॥

तीन लोक को अपने बल पर जीत विजेता बना हुआ ।
काम समझ यों लोक-ईश में व्यर्थ गर्व से तना हुआ ॥
धीर वीर जिन किन्तु आप पर प्रभाव उसका नहीं पड़ा ।
लज्जित होकर शिशु-सा आकर तव चरणों में तभी पड़ा ॥६॥

इस भव में भी पर भव में भी दुस्सह दुख की है जननी ।
तृष्णा-रूपी नदी भयंकर यह नरकों की वैतरणी ॥
इसका पाना पार कठिन है कई तैरते हार गये ।
वीतराग-मय ज्ञान-नाव में बैठ किन्तु प्रभु पार गये ॥७॥

सदा काल से काल जगत को खाता रहा था सता रहा ।
जन्म-रोग को मित्र बना कर जीवन अपना बिता रहा ॥
महाकाल विकराल किन्तु प्रभु काल आपने विकल किया ।
कुटिल चाल को छोड़ काल ने सरल चाल में बदल दिया ॥८॥

शस्त्रों, वस्त्रों, पुत्र, कलत्रों, आभरणों से रहित रहा ।
विराग विद्या दया दमन से पूर्ण रूप से सहित रहा ॥
इस विध जो तव रूप मनोहर मौन रूप से बोल रहा ।
धीर ! रहित हो सकल दोष से जब जीवन अनमोल रहा ॥९॥

तव तन की अति प्रखर ज्यातिमा फैल रही चहुँ ओर सही ।
फलतः बाहिर सघन तिमिर सब भगा, हुआ हो भार कहीं ॥
इसी तरह निज शुद्धातम के परम विभा से नाश किया ।
मोह-मयी अतिघनी निशा का, निज-घर शिव में वास किया ॥१०॥

सकल विश्व को जानन हारा तुममें केवलज्ञान हुआ ।
समवशरण आदिक अनुपम तव अतिशय आविर्भान हुआ ॥
पुण्य-पाक मय इस अतिशय को भविक जनों ने निरखा हो ।
तव पद में नत क्यों ना होवें दोष गुणन को परखा हो ॥११॥

जिसकी भाषा, उस भाषा में उसको समझाती वाणी ।
अमृतमयी है जिनवाणी है ज्ञानी कहते कल्याणी ॥
समवशरण में फैल सभी के कर्ण तृप्त भी है करती
सुधा जगत में जिस विध, जन-जन को सुख दे सब दुख हरती ॥१२॥

अनेकान्त तव दृष्टि रही है सत्य तथ्य बुध-मीत रही ।
तथ्य-हीन एकान्त दृष्टि है औरों की विपरीत रही ॥
एकान्ती का जो कुछ कहना असत्य भी है उचित नहीं ।
और रहा निज मत का घातक इसीलिए वह मुदित नहीं ॥१३॥

पर मत की कमियों को लखने नेत्र खोलकर जाग रहे ।
निज-कमियाँ लख भी नहिं लखते जैसे सोते नाग (हाथी) रहे ॥
निज मत थापित पर मत बाधित करने में भी निर्बल है ।
तापस वे नहिं समझ सकेंगे तव मत जो अति निर्मल है ॥१४॥

एकान्ती जन दोष-बीज ही सदा निरन्तर बोते हैं ।
निज मत घातक दोष मिटाने सक्षम नहिं वे होते हैं ॥
अनेकान्त तव मत से चिढ़ते आत्महनक हैं बने हुए ।
अवक्तव्य ही "तत्त्व सर्वथा" जड़ जन कहते तने हुए ॥१५॥

अवक्तव्य वक्तव्य नित्य या अनित्य ही यह वस्तु रही ।
सदसत् या है एक रही या अनेक अथवा वस्तु रही ॥
कहें सर्वथा यों नय करते वस्तु-तत्त्व को दूषित हैं ।
पोषित करते, किन्तु आपके स्याद् पद से नय भूषित हैं ॥१६॥

प्रमाण द्वारा ज्ञात विषय की सदा अपेक्षा रखता है ।
किन्तु 'सर्वथा नियम' रखे बिन वस्तु-भाव को चखता है ॥
ऐसा स्याद् पद पर मत का नहिं तव मत का शृंगार रहा ।
अत: 'सर्वथा पद' ही परमत निजमत को संहार रहा ॥१७॥

प्रमाण नय साधन से साधित अनेकान्त-मय तव मत में ।
अनेकान्त भी अनेकान्त है जिसका सेवक अवनत में ॥
पूर्ण वस्तु को विषय बनाते प्रमाण-वश नैकान्त बने ।
वस्तु-धर्म हो एक विवक्षित, नय-वश तब एकान्त तने ॥१८॥

निराबाध और निरुपम शासन के शासक गुण-धारक हो ।
सुखद-योग-गुण-पालन का पथ दिखलाते अघ मारक हो ॥
इन्द्रिय-विजयी धर्म तीर्थ के हे भव जिन तुम नायक हो ।
तुम बिन, भविजन हितपथ दर्शक, अन्य कौन ? सुखदायक हो ॥१९॥

आगम का भी अल्प ज्ञान है पूर्ण ज्ञान यह मिला नहीं ।
मंद बुद्धि मम, विशद नहीं है भक्ति भाव बिन मिला नहीं ॥
मानस आगम बन ने फिर भी जो कुछ तव गुणगान किया ।
पाप शमन का हेतु बनेगा वरन् । यही अनुमान किया ॥२०॥

- सोरठा

नाम-मात्र भी नहिं रखो नाम-काम से काम ।
ललाम आतम में करो विराम आठों याम ॥१॥

नाम धरो 'अर' नाम तव अत: स्मरूँ अविराम ।
अनाम बन शिव-धाम में काम बनूँ कृत-काम ॥२॥

मल्लिनाथ-स्तवन

बने महा ऋषि जब तुम, तुममें सुप्त जागृत योग हुआ ।
लोकालोकालोकित करता अनुपमेय आलोक हुआ ॥
इसीलिए बस खिंचकर आकर झुककर नर जगत सभी ।
जोड़ करों को हुआ प्रणत तव, पद में हैं मौलि जगत अभी ॥१॥

तव तन आभा तप्त स्वर्ण-सी तन की चारों ओर सही ।
परिमण्डल की रचना करती यह शोभा नहिं और कहीं ॥
वस्तु-तत्त्व को कहने आतुर स्याद्-पद वाली तव वाणी ।
दोनों मुनिजन को हर्षाती जिनकी शरणा सुखदानी ॥२॥

मनमानी तज प्रतिवादी जन तव सम्मख हो गतमानी ।
वाद करे ना कुतर्क करते जब प्रभु पूरण हो ज्ञानी ॥
तथा आपके शुभ दर्शन से हरी-भरी हो भी लसती ।
खिली कमलिनी मृदुतम-सी यह धरा सुन्दरा भी हँसती ॥३॥

शान्त कान्ति से शोभ रहे हैं पूर्ण चन्द्रमा जिनवर हैं ।
शिष्य-साधु चहुँ-ओर घिरे हैं गृह-बन गणधर मुनिवर हैं ॥
तीर्थ आप का ताप मिटाता अनुपम सुख का हेतु रहा ।
दुखित भव्य भव पार कर सके भव-सागर का सेतु रहा ॥४॥

शुक्ल ध्यान मय तपश्चरण के दीप्त अनल से जला जला ।
राख किया कटु पाप कर्म को तभी तुम्हें शिव किला मिला ॥
शल्य-रहित कृत-कृत्य बने हो मल्लिनाथ जिन पुंगव हो ।
चरणों में दो शरण मुझे अब भव-भय पुनि ना संभव हो ॥५॥

- दोहा -

मोह मल्ल को मार कर मल्लिनाथ जिनदेव ।
अक्षय बनकर पा लिये अक्षय सुख स्वयमेव ॥१॥

बाल ब्रह्मचारी विभो बाल समान विराग ।
किसी वस्तु से राग ना मम तव पद से राग ॥२॥

मुनिसुव्रतनाथ-स्तवन

मुनि बन मुनि-पथ चलते मुनिपन में दृढ़ हो मुनिनाथ हुए ।
मुनिसुव्रत प्रभु पाप-रहित हो निज में रत दिन-रात हुए ॥
मुनियों की उस भरी सभा में अनुपम द्युति से शोभ रहे ।
तारक गण के ठीक बीच ज्यों शोभित शीतल सोम रहे ॥१॥

द्वादश विध खर तप कर तुमने देह-मोह सब भुला दिया ।
काम रोग को अहंकार को पूर्ण रूप से जला दिया ॥
मोर-कण्ठ-सम सघन नीलिमा फलतः तव तन में फूटी ।
पूर्णचन्द्र के परितः फैली मण्डल-द्युति पड़ती झूठी ॥२॥

चन्द्र-चाँदनी-सम धवलित शुचि रुधिर भरा है तव तन में ।
परम सुगंधित निर्मल तन है ऐसा तन ना त्रिभुवन में ॥
केवल सुख कर नहीं किन्तु तव तन मन वच की परिणतियाँ ।
विश्व जगत को सुख कारणी जिन से मिलती चहुँ गतियाँ ॥३॥

युगों-युगों से जड़-चेतन ये जग के पदार्थ सारे हैं ।
ध्रौव्य-जनन-मय तथा नाशमय लक्षण यथार्थ धारे हैं ॥
इस विध तव वाणी यह कहती, सकल विश्व के ज्ञायक हैं ।
शिव पथ शासन कर्त्ताओं में कुशल आप ही शासक हैं ॥४॥

निरुपम चौथे शुक्ल ध्यान मय संबल निज में जगा लिया ।
अष्टकर्म-मल पाप-किट्ट को जला-जला कर मिटा दिया ॥
भवातीत उस मोक्ष-सौख्य का लाभ आपने उठा लिया ।
करो नाश अब मम भव का भी, मन में तव पद बिठा लिया ॥५॥

- दोहा -

मुनि बन मुनिपन में निरत हो मुनि गति बिन स्वार्थ ।
मुनिव्रत का उपदेश दे हमको किया कृतार्थ ॥१॥

यही भावना मम रही मुनिव्रत पाल यथार्थ ।
मैं भी मुनिसव्रत बनूँ पावन पाय पदार्थ ॥२॥